उन्होंने अपनी यात्राओं में ईश्वर के नाम पर, योग के नाम पर, धर्म-कर्म के नाम पर जो पाखण्ड तथा अनाचार एवं दुराचार और समाजिक कुरीतियां देखी थी, वे जानना चाहते थे कि क्या ये शास्त्र सम्मत है। इसके लिए शास्त्राध्ययन आवश्यक था। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वे सन् 1855 में हरिद्वार पधारे थे तथा स्वामी पूर्णानन्द जी से भेंट करके उनसे पढ़ाने का आग्रह किया था मगर वृद्धावस्था के कारण उन्होंने दयानन्द जी को शास्त्राध्ययन कराने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि यदि तुम पढ़ना चाहते हो तो मथुरा में मेरे योग्य शिष्य विरजानन्द के पास चले जाओ, वे तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे। पण्डित लेखराम जी के अनुसार महर्षि दयानन्द जी ने नर्मदा तट पर परिभ्रमण करते समय गुरू विरजानन्द जी की विद्वता की प्रशंसा सुनी हुई थी। अतः स्वामी पूर्णानन्द जी के परामर्श पर उन्होंने मथुरा के लिए प्रस्थान किया और महर्षि दयानन्द जी को सच्चा गुरू तथा दण्डी जी को सच्चा शिष्य मिल गया।

दण्डीजी के पास जो भी विद्यार्थी विद्या-ग्रहण करने के लिए आता था, उससे वे जो कुछ भी कहते थे वही दयानन्द जी से कहा कि जो मनुष्य-कृत ग्रन्थ आज तक पढ़ें हैं, वे अनार्षग्रन्थ है। उन्हें पूर्णतया भूल जाओ। जब तक तुम पर इन ग्रन्थों का प्रभाव रहेगा तब तक ऋषि-पाणीत आर्ष-ग्रन्थों का हृदय में प्रकाशन न हो सकेगा। तुम इन ग्रन्थों को यमुना में बहा दो। दूसरी बात उन्होंने कही कि मै संन्यासी को नहीं पढ़ाया करता हूँ क्योंकि उसके भोजन तथा निवास आदि की निश्चित व्यवस्था नहीं होती जिसके कारण वह निश्चिन्त होकर पढ़ने में एकाग्रचित्त नहीं हो सकता। तुम अपने भोजनादि की व्यवस्था करके आओ। धीर, गम्भीर, दृढ़ जिज्ञासु